



ओम्  
इन्द्रो विद्यमानसि  
साप्ताहिक



# आर्य मर्यादा

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रमुख पत्र

वर्ष : 76, अंक : 13 एक प्रति 2 : रुपये

कुल पृष्ठ : 8

रविवार 30 जून, 2019

विक्रमी सम्वत् 2076, सृष्टि सम्वत् 1960853120

दयानन्दाब्द : 195 वार्षिक शुल्क : 100 रुपये

आजीवन शुल्क : 1000 रुपये

दूरभाष : 0181-2292926, 5062726

E-mail: [apspunjab2010@gmail.com](mailto:apspunjab2010@gmail.com),

[www.aryapratinidhisabha.org](http://www.aryapratinidhisabha.org)

वर्ष-76, अंक : 13, 27-30 जून 2019 तदनुसार 16 आषाढ़, सम्वत् 2076 मूल्य 2 रु०, वार्षिक 100 रु० आजीवन 1000 रु०

## इन्द्र कहाँ है?

ले०-स्वामी वेदानन्द ( दयानन्द ) तीर्थ

यस्ता चकार स कुह स्विदिन्द्रः कमा जनं चरति कासु विक्षु।  
कस्ते यज्ञो मनसे शं वराय को अर्क इन्द्र कतमः स होता ॥

-ऋ० ६।२१।४

शब्दार्थ-यः = जो ता = उन सब लोकलोकान्तरों को चकार = बनाता है, सः+इन्द्रः = वह इन्द्र कुह+स्वित् = कहाँ है? और कासु+विक्षु = किन प्रजाओं में कम्+जनम् = किस मनुष्य के पास आ+चरति = विचरता है? हे इन्द्र = परमेश्वर! ते = तेरा कः = कौन यज्ञः = यज्ञ शम् = कल्याणकारी है? वराय = तुझे अपनाने के लिए कः = कौन-सा अर्कः = मन्त्र, पूजासाधन है? और सः = वह कतमः = कौन है जो होता = स्वीकार करने वाला है?

व्याख्या-ऋ० ६।२१।१ में भगवान् के सम्बन्ध में आता है- 'सुकृतः कर्तृभिर्भूत' अपनी कर्तृत्व-शक्तियों के द्वारा वह सुकृत है। और भी लिखा है कि वह सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों का निर्माता है। 'तमु ष्टुहि' उसी की स्तुति कर, ऐसा आदेश भी वेद में है। सृष्टि रचना को देखकर अनुमान से निश्चय होता है कि इस विशाल संसार का कर्ता अवश्य होना चाहिए, किन्तु जब वह दीखता नहीं, तब मन में उद्वेग उत्पन्न होता है। उस उद्वेग को प्रश्न द्वारा व्यक्त किया है- 'यस्ता चकार स कुह स्विदिन्द्रः' = यह प्रश्न अनास्था या अश्रद्धा का द्योतक नहीं, वरन् गहरी श्रद्धा तथा भक्ति का प्रकाशक है। अनुमान से जानी हुई वस्तु के प्रत्यक्ष होने की इच्छा का होना स्वाभाविक ही है। अगला प्रश्न हमारी धारणा के सर्वथा पोषक हैं। यथा- 'कमा जनं चरति कासु विक्षु' = वह किन प्रजाओं में [किस देश में] किस जन के पास विचरता है? अर्थात् बताओ, भगवान् को कौन-सा देश प्यारा है? कौन-सी जाति विशेष भगवान् की अभीष्ट है? और कौन-सा मनुष्य ऐसा है जिसके पास भगवान् 'आ चरति' सब ओर से प्राप्त है, अर्थात् मुझे बताओ मैं किस प्रजा, किस देश में जा बसूँ? भगवान् भक्त के वश में सुने जाते हैं। उस भक्त का पता बताओ। मैं उसके पास जाऊँगा। अहो! कितनी व्यग्रता है!

यह व्यग्रता यहीं समाप्त नहीं हुई। अनुमान से भगवान् के सम्बन्ध में यह सामान्य ज्ञान हो चुका है कि वह सर्वत्र विद्यमान है, सर्वत्र विद्यमान होने से सबकी सुनता है, अतः उसे स्वयं सुनाने के भाव से पुकार उठाता है- 'कस्ते यज्ञो मनसे शम्' = तेरा कौन-सा यज्ञ=पूजाप्रकार मन के लिए शान्तिप्रद है? मन में अशान्ति है। प्रभो! तू स्वयं ही बता, कैसे इस मन को, व्याकुल मन को कल पड़ेगी? कौन-सा यज्ञ है? भगवान्! मैं केवल मन की शान्ति ही नहीं चाहता, मैं तो तुझे चाहता हूँ, अतः बता, बता, पितः-

'वराय को अर्कः' = तुझे अपनाने का कौन-सा मन्त्र है? कौन-सा गुप्त उपाय तुझे अपनाने का है? क्या कोई ऐसा भी है जिसने तुझे अपना रखा है? कतमः स होता = वह स्वीकार करने वाला कौन-सा है? जब तक पूरी तड़प न हो, भगवान् नहीं मिलते। पूरी तड़प का यह एक नमूना है।

( स्वाध्याय संदोह से साभार )

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।

पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥

-यजु० ३१.२०

भावार्थ-जो जगत्पिता परमात्मा भूत भौतिक संसार की उत्पत्ति से प्रथम, विचार रूपी तप करता है। जैसे घट का निमित्त कारण कुलाल घट की उत्पत्ति से प्रथम जिस प्रकार का घट बनाना हो वैसा ही विचार करके घट बनाता है, ऐसे ही ईश्वर विचार कर (उसका नियम ही विचार है) संसार को उत्पन्न करता है। संसार के देव सूर्य, चन्द्र, बिजुली आदिकों से वह प्रभु पूर्व ही विद्यमान था। ऐसे वेद निरूपित प्रकाश और तेजोमय जगदीश को, बहुत नम्रतापूर्वक हम सब प्रेमभक्ति से बारम्बार प्रणाम करते हैं।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्।

यस्त्वेवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥

-यजु० ३१.२१

भावार्थ-ब्रह्मज्ञान ही हम सब को आनन्द देने वाला और मनुष्य की रुचि और प्रीति बढ़ाने वाला है। उस ब्रह्मज्ञान को विद्वान् लोग, अन्य मनुष्यों को उपदेश करके, उनको आनन्दित कर देते हैं, जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है, उसी ज्ञानी पुरुष के मन आदि सब इन्द्रिय वश में हो जाते हैं।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपम-श्विनौ  
व्यात्तम्। इष्वात्रिषाणामुं म इषाण सर्वलोकं इषाण ॥

-यजु० ३१.२६

भावार्थ-हे परमात्मन्! संसार भर की सर्व शोभारूपी श्री और संसार भर की सब विभूति धन ऐश्वर्य रूपी लक्ष्मी, ये दोनों आपकी स्त्रियाँ हैं। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के अधीन रहती है, ऐसे ही सब शोभा और सब प्रकार की विभूति आपकी आज्ञा में सर्वदा वर्तमान हैं। दिन-रात (पार्श्वे) पासे और सब नक्षत्र आपके रूप के तुल्य हैं। द्युलोक और पृथिवी खुले मुख के तुल्य हैं, अर्थात् समस्त जगत् आपके अधीन है आपकी आज्ञा से बाहिर कुछ भी नहीं है, ऐसे महासमर्थ जगत्पति आप पिता से ही हमारी प्रार्थना है कि हमें शोभा और विभूति प्रदान करें और सब लोकों के सुख प्राप्त करावें। सर्व दुःख निवृत्ति पूर्वक, परमात्मा प्राप्ति रूपी मुक्ति भी हमें कृपा कर प्रदान करें।

# ईश्वरीय ज्ञान और वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित आर्य समाज

ले.-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून

आर्य समाज वेदों के उच्च-कोटि के विद्वान ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा मुम्बई में 10 अप्रैल सन् 1875 को स्थापित एक ऐसा धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन है जो ईश्वर प्रदत्त वेद ज्ञान पर आधारित होने के साथ विज्ञान के अनुकूल धार्मिक सिद्धान्तों को मानता व उन्हें ज्ञान, विज्ञान, तर्क व युक्ति की कसौटी पर सिद्ध भी करता है। आर्य समाज के समान विशेषताओं वाला पृथिवी पर कोई भी धार्मिक संगठन नहीं है। प्राचीनता की दृष्टि से देखें तो वैदिक धर्म, जिसका आर्य समाज प्रचार व प्रसार करता है, सबसे प्राचीन धर्म व मत है जिसका आरम्भ परमात्मा ने स्वयं ही चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा की पवित्र जीवात्माओं में मनुष्य के लिये आवश्यक समग्र ज्ञान देकर किया था। वेद के किसी सिद्धान्त को तर्क व युक्ति अथवा ज्ञान व विज्ञान के किसी सिद्धान्त, नियम व तर्क से नहीं काटा जा सकता। विज्ञान पृथिवी को गोल बताता है तो वेद, वैदिक धर्म और आर्य समाज भी पृथिवी को आरम्भ से ही भूगोल बताते हैं।

अग्नि की परिभाषा देते हुए हमारे ऋषि कहते हैं कि अग्नि अग्रणी भवति अर्थात् अग्नि उसे कहते हैं जो सदैव आगे या ऊपर की ओर ही जाती है। हम हवन कुण्ड या चूल्हे में अग्नि जलाते हैं तो उसकी लपटे दायें, बायें या नीचे की दिशा में नहीं जाती अपितु हमेशा ऊपर की दिशा में ही जाती व गति करती है। किसी व्यक्ति में इस नियम व सिद्धान्त को काटने की क्षमता नहीं है। इसे ज्ञान व विज्ञान सम्मत सिद्धान्त कह सकते हैं। भाषा की दृष्टि से देखें तो वेदों की भाषा संसार की सब भाषाओं से श्रेष्ठ है।

इसका अनुमान संस्कृत का स्वयं अध्ययन कर ही लगाया जा सकता है। वेदों के एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। अग्नि के एक सौ से अधिक पर्यायवाची शब्द हैं। संस्कृत के समान यह विशेषता संसार की किसी भी भाषा में नहीं है। इसी आधार पर संसार के अन्य मत भाषा

की दृष्टि से भी वैदिक धर्म की तुलना में नहीं आते। वेदों का ज्ञान व भाषा ऐसी है जिसका अध्ययन कर मनुष्य उच्च कोटि का विद्वान तथा विवेक से युक्त मानव बनता है। उसका आचरण श्रेष्ठ व पवित्र होता है। वह संसार के मनुष्यों को अपना बन्धु समझता है। वह किसी ऐसी बात को नहीं मानता व ऐसा कोई कार्य नहीं करता जिससे संसार के किसी मनुष्य व प्राणी को हानि होती है। यह बात हम सभी मतों में नहीं देखते। कई मत तो दूसरे मतों का येन केन प्रकारेण मत परिवर्तन कर अपने-अपने मत में सम्मिलित करने को ही अपने मत का प्रयोजन प्रदर्शित करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्हें सत्य व असत्य तथा मानव के हित व अहित से कुछ अधिक लेना देना नहीं है। यदि उनमें सत्य को स्वीकार करने की भावना व जज्बा होता तो वह सत्य मत वेद वा वैदिक धर्म को स्वीकार कर लेते जहां ईश्वर व जीवात्मा का सत्य व निर्दोष स्वरूप पाया जाता है और इसका आचरण कर मनुष्य सर्वव्यापक व सर्वान्तर्यामी ईश्वर का साक्षात्कार भी कर सकता है। विधर्मों व विपक्षियों द्वारा वेदाध्ययन न करना उन्हें पक्षपाती सिद्ध करता है। इससे उनकी सत्य की उपेक्षा की प्रवृत्ति भी प्रकट होती है। आर्य समाज व इसके अनुयायियों को किसी मत की पुस्तक से कोई आपत्ति व विरोध भाव नहीं है। आर्य समाज के विद्वानों ने सभी मतों की भाषाओं व उनकी पुस्तकों का अध्ययन किया है और उनकी वैदिक मान्यताओं से तुलना कर असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण किया है परन्तु अन्य मत इस सर्वमान्य सिद्धान्त “सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग का पालन करते हुए नहीं दिखाई देते।

हम अपने जन्म से अब तक इस सृष्टि को देखते आ रहे हैं जो कि अपौरुषेय है। मनुष्य इसकी रचना व निर्माण नहीं कर सकते। संसार में अन्य कोई सत्ता दिखाई नहीं देती जिससे इस सृष्टि का निर्माण हुआ हो? अतः इस सृष्टि का रचयिता व पालक एक अदृश्य निराकार,

सर्वात्तिसूक्ष्म, चेतन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सूक्ष्म जीवात्माओं में भी व्यापक तथा घट-घट की वासी सत्ता सिद्ध होती है। विज्ञान सार्वजनिक रूप से ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता परन्तु उसके पास इसका समुचित उत्तर भी नहीं है कि इस सृष्टि की, जो कि बुद्धिपूर्वक रची गई कृति है, उत्पत्ति किस ज्ञान-विज्ञान से युक्त सत्ता ने की? अतः सृष्टि की उत्पत्ति एवं इसके पालन का वेद और ऋषियों का दिया हुआ सिद्धान्त ही सत्य है। भविष्य में वह समय अवश्य आयेगा जब विश्व के वैज्ञानिक भी तर्क के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करेंगे। अनेक वैज्ञानिक वर्तमान में भी इतना तो स्वीकार करते ही हैं कि संसार में ऐसी एक सत्ता हो सकती है जिसने सृष्टि की रचना की है परन्तु विज्ञान अभी तक उस सत्ता को जान नहीं पाया है। वह सत्ता वेद प्रतिपादित ईश्वर ही है जिसने सृष्टि रचकर कर सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों को वेदों का ज्ञान दिया था तथा जिसकी सहायता से मनुष्य जीवनयापन करने सहित धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त हो सकता है। सृष्टि के आरम्भ से हमारे असंख्य ऋषि व योगी वेदानुसार योगयुक्त जीवन व्यतीत करते हुए जन्म व मरण के बन्धनों से छूट कर मोक्ष अर्थात् ईश्वर को प्राप्त हुए हैं और सभी दुःखों से छूटे हैं। ऋषियों की योग्यता देख कर हम दंग रह जाते हैं। ऋषियों ने ही हमें बताया है कि जन्म व मरण दुःखों से युक्त होते हैं। जन्म व मरण के बन्धनों से छूटना ही मोक्ष है। मोक्ष में जीवात्मा ईश्वर से अनेकानेक शक्तियों को प्राप्त करता है और सुख व आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करता है। मोक्ष की अवधि भी हमारे ऋषियों ने अपने दिव्य ज्ञान चक्षुओं से ज्ञात कर 31 नील अरब वर्षों से कुछ अधिक की बताई है जिसका उल्लेख ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के नवम् समुल्लास में सप्रमाण किया है।

आर्य समाज ईश्वर व जीवात्मा

के जिस वैदिक स्वरूप को मानता है वह पूर्णतः तार्किक एवं सन्देह से परे है। ऋषि दयानन्द ने वेदों के आधार पर लिखा है कि ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। ईश्वर वेद ज्ञान का दाता, जीवात्मा के शुभ व अशुभ कर्मों के फलों का देने वाला, ईश्वर साक्षात्कार की हुई पवित्र जीवात्माओं को मोक्ष प्रदान करने वाला, सत्यपुरुषों का प्रेरक व रक्षक, ईश्वर भक्तों के ज्ञान को बढ़ाने वाला व उन्हें दुःखों से मुक्त रखकर, उनकी सहनशक्ति बढ़ाकर, उन्हें परसेवा व परोपकार की प्रेरणा देने वाला तथा ईश्वरोपासना तथा अग्निहोत्र यज्ञ करने पर उत्साह व सुख प्रदान करने वाला है। संसार में तीन नित्य पदार्थों में से प्रथम ईश्वर के बाद दूसरे चेतन पदार्थ जीवात्मा का स्वतन्त्र, अनादि, अविनाशी एवं अमर अस्तित्व है जो संसार में अनन्त संख्या में विद्यमान हैं। सभी जीवात्मायें जो मनुष्य आदि नाना प्राणियों में दृष्टिगोचर व अनुभव में आती हैं वह सब अल्पज्ञ, एकदेशी, ससीम, ज्ञान व कर्म की क्षमता से युक्त, जन्म-मरण धर्मा, पाप व पुण्य कर्मों के कर्ता, कर्मों के फलों के भोक्ता तथा इच्छा-द्वेष-सुख व दुःख से ग्रस्त देखे जाते हैं। संसार में तीसरा नित्य पदार्थ सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है। यह प्रकृति भी अत्यन्त सूक्ष्म एवं सत्व, रज एवं तमो गुणों वाली है। इन गुणों की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। इस प्रकृति से ही ईश्वर इस सृष्टि की रचना करते हैं। इसका विभिन्न चरणों महतत्व, अहंकार, पांच तन्मात्राओं आदि के रूप में विकार व विकास होकर यह सृष्टि अस्तित्व में आती है। इसके लिये वैशेषिक दर्शन आदि सहित सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन कर भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार से ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना कर जीवों को जन्म-मरण एवं सुख

( शेष पृष्ठ 7 पर )



सम्पादकीय

## बेहतर शिक्षा प्रणाली ही अच्छे नागरिक का निर्माण करती है

शिक्षा मानव समाज का अभिन्न अंग होने के कारण मानव के निर्माण का प्रमुख घटक है। मनुष्य की जीवन यात्रा का आरम्भ शिक्षण से होता है। विद्यार्जन की साधना ही व्यक्ति के भावी जीवन की सफलता का मूलमन्त्र है। समुचित विकसित जीवन के लिए शिक्षा की महत्ता को सभी ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। परन्तु विडम्बना यही है कि शिक्षा जगत् में प्रबल प्रयत्न करने पर भी मानव का समुचित निर्माण एवं विकास दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। समय-समय पर मनीषियों द्वारा शिक्षा को परिभाषित किया जाता रहा है। यहाँ हम महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे जिसके परिपेक्ष्य में व्यक्ति निर्माण की इकाई के साथ समाज व राष्ट्र का निर्माण सम्भव है। शिक्षा के विषय में महर्षि की मान्यता है- जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि गुणों का विकास हो और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं। इसी तथ्य को महर्षि दयानन्द सरस्वती जी व्यवहारभानु में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि- जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सके, वह शिक्षा कहाती है।

महर्षि दयानन्द के मन्तव्यानुसार शिक्षा परिष्कार तथा संस्काराधान का प्रथम साधन है। इसी विचार से उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के दूसरे एवं तीसरे समुल्लास प्रमुखतः शिक्षा के सम्बन्ध में ही लिखे। इन दोनों समुल्लासों में शिक्षा के प्राथमिक व मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन करते हुए बाल शिक्षा तथा अध्ययनाध्यापन विधि के अन्तर्गत शिक्षणालयों के लिए पाठ्यक्रम की भी समायोजना की है। शिक्षा मानव निर्माण की प्रमुख सोपान है। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए दूसरे समुल्लास के आरम्भ में शतपथ का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए स्वामी जी लिखते हैं- मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद। अर्थात् प्रशस्त माता, प्रशस्त पिता, तथा प्रशस्त आचार्य वाला पुरुष ही ज्ञानवान होता है। सुयोग्य माता-पिता व आचार्य के संरक्षण में बालक मानवीय गुणों को धारण करके मानव संज्ञा को सार्थक करता है। इस समुल्लास में वर्णित बाल शिक्षा की उत्तम प्रणाली गृहस्थों के लिए वरणीय एवं उपयोगी है। यह मनुष्य निर्माण की आधारभूत शिक्षा है, जिसे माता-पिता के द्वारा घर में प्रदान किया जाता है। तदनन्तर गुरुकुल पाठशाला में अध्ययन का क्रम आरम्भ होता है। जिसमें वह आचार्य का अन्तेवासी बनकर शास्त्रीय ज्ञान को अधिगत करता हुआ उसे आचरणरूप में भी आत्मसात् करता है तथा विद्या को प्राप्त करके स्नातक की उपाधि से अलंकृत हो जाता है। विद्वान् शिक्षक का स्वरूप तथा उनके कर्तव्य को बोध वेद में विस्तार से वर्णित किया गया है। वेद की दृष्टि में विद्वान् कहलाने के लिए केवल विद्या ही आवश्यक नहीं अपितु उसके साथ तपस्या, धार्मिकता व सदाचार आदि गुण भी होने चाहिए। ऋग्वेदीय प्रमाण से महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं कि- वही वस्तुतः विद्वान् है जो स्वयं धर्म मार्ग पर चलता हुआ अन्यो को सुगम और दुर्गम मार्गों में से धर्म मार्ग का उपदेश कर सके।

महर्षि दयानन्द जी ने मन्त्रों के भाष्य में विद्वानों के कर्तव्यों का प्रतिपादन करते हुए उन पर विद्या-प्रचार तथा समाज सुधार का एक बड़ा उत्तरदायित्व सौंपा है। महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं कि- विद्वानों को चाहिए कि अविद्या की निन्दा और दोषों का निवारण करें। जो शरीर और मन को विषयासक्ति, प्रमाद, हिंसा आदि बुरे कर्मों में लगाते हैं, उन्हें उनसे दूर करें तथा सर्वत्र सद्गुणों का प्रसार करें। विद्वज्जन सब

मनुष्यों को सब विद्याएं पढ़ाकर विद्यावान्, बहुश्रुत, स्वछन्द और सुरक्षित कर दें जिससे वे संशयरहित होकर सदा सुखी रहें। विद्वान् शिक्षक का कर्तव्य राष्ट्र के भावी कर्णधार शिष्यों को विद्या एवं चरित्र दोनों की शिक्षा देकर सुयोग्य बनाना है। इसके लिए उन्हें अगाध पाण्डित्य के साथ-साथ सच्चरित्रता, धार्मिकता आदि अन्य विविध गुणों से भी भूषित करना आवश्यक है। अध्यापक कैसे हों? इस विषय पर महर्षि दयानन्द जी लिखते हैं कि- जो नवीन-नवीन विद्याओं का ग्रहण करने के इच्छुक, ऐश्वर्य के अभिलाषी, जितेन्द्रिय, विद्वान् अध्यापक लोग अज्ञानियों को ज्ञान देकर विद्वान् करते हैं, वे ही पूजनीय होते हैं, जो मेधावी, परोपकारी, आप्त विद्वान्, पूर्ण पण्डित, विद्या के ऐश्वर्य से युक्त, अहिंसक, ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय पुरुष हो, उसी को योग्य अध्यापक जानकर शिष्यों को अपनी सभी शंकाओं का निवारण करना चाहिए। किन्तु जो अविद्वान्, ईर्ष्यालु, कपटी और स्वार्थी मनुष्य हो, उससे सर्वदा दूर रहना चाहिए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने अपने ग्रन्थों में शिक्षा के विभिन्न बिन्दुओं पर प्रकाश डालते हुए ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के भाष्य में भी अनेक वेदमन्त्रों का शिक्षापरक अर्थ करते हुए शिक्षाविषयक महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जिसके माध्यम से वैदिक शिक्षा विज्ञान भी हमारे सम्मुख व्यक्त होता है। ऋषि के मन्तव्यानुसार वेद में शिक्षा की उपादेयता तथा अनिवार्यता, विद्या प्राप्ति के उपाय, शिक्षकों की योग्यता तथा कर्तव्य, विद्यार्थियों के कर्तव्य, विद्वान् अध्यापक द्वारा सुपात्र-कुपात्र के विचारपूर्वक विद्यादान विद्वानों के कर्तव्य तथा उनके द्वारा शिल्पविद्या की उन्नति, समाज में विद्वानों का सेवन व सत्कार, कन्याओं की शिक्षा में दण्ड का विधान, राजकार्यों में विद्वानों के सत्परामर्श की ग्राह्यता आदि विषयों का सम्यक् स्पष्टीकरण दृष्टिगत होता है। महर्षिकृत वेद भाष्य के शिक्षाविषयक तथ्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा सामयिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। शिक्षा के सुफल को पाने के लिए आज के निर्धारित शिक्षा सम्बन्धी मापदण्ड परिवर्तनीय हैं। पूर्वकाल में वेदों की सहायता लेकर गौतम वशिष्ठ, आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्रकारों ने अपने ग्रन्थों में ब्रह्मचारी शिष्य के कर्तव्य, आचार्य का महत्त्व तथा उनके कर्तव्य आदि प्रकरण प्रतिपादित किए हैं। वेदों में शिक्षा विषयक वे तत्त्व कहां किस प्रकार निहित हैं यह प्रमुखतया दयानन्द के वेदभाष्य से ही हमें ज्ञात होता है।

महर्षि दयानन्द द्वारा लिखित साहित्य में जिस शिक्षा विज्ञान का विशद वर्णन मिलता है, निश्चय ही शिक्षा की उस सरणि से छात्रों को शिक्षित करने वाले सुयोग्य शिक्षक के प्रयास से वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्र सम्बन्धी समस्त समस्याओं का समाधान सम्भव है। समस्याओं का निदान हमारे मन-मस्तिष्क में है और निर्मल अन्तःकरण का निर्माण शिक्षक, आचार्य और गुरुजनों के अधीन है। वर्तमान में जिस शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है उसे महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित शिक्षा प्रणाली से ही पूर्ण किया जा सकता है। वर्तमान शिक्षा पद्धति के द्वारा अच्छे नागरिक का निर्माण करना सम्भव नहीं है क्योंकि शिक्षकों और विद्यार्थियों में आपसी तालमेल का अभाव है। शिक्षक अपने कर्तव्यों को नहीं जानता है और विद्यार्थी उचित मार्गदर्शन के अभाव में दिशाहीन है। अच्छे शिक्षक के मार्गदर्शन में व्यक्ति अपना एवं समाज का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। उत्तम शिक्षा के इस सर्वातिशयी महत्त्व को हमें स्वीकार करना चाहिए।

प्रेम भारद्वाज  
संपादक एवं सभा महामन्त्री

# महर्षि दयानन्द की दृष्टि में अहिंसा किसके लिए कितनी व्यवहार्य?

ले.-पं. वेद प्रकाश शास्त्री, फाजिल्का

( गतांक से आगे )

अल्पाण्डून् हन्मि महता वधेन  
दूना अदूना अरसा अभूवन्।

शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि  
वाचा यथा क्रि मीणां  
नकिरुच्छिषातै।।

अथर्व. 2/31/3

उपाधनों (तकियों) में भरे हुए  
जन्तुओं को बड़ी चोट से मैं मारता  
हूँ। तपे हुए और बिना तपे हुए  
(पक्के और कच्चे कीड़े), नीरस  
(निर्बल) हो गए हैं। बचे हुए दुष्टों  
को वचन से नीचे डाल कर मार  
डालूँ। जिससे कीड़ों में से कोई भी  
बचा न रहे।

अन्वान्त्रयं शीर्षण्यमथो पाष्ट्यं  
क्रिमीन्।

अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्  
वचसा जम्भयामसि।।

अथर्व. 2/31/4

आंतों में विद्यमान, शिर में रहने  
वाले और पसलियों के इन सब  
कीड़ों को, नीचे रेंगने वाले, छेद  
करने वाले अथवा यज्ञ का विरोध  
करने वाले सब कीड़ों को वचन  
मात्र से हम नाश करें।

ये क्रि मयः पर्वतेषु  
वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्वन्तः।

ये अस्माकं तन्वमाविशुः  
सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्।।

अथर्व. 2/31/5

जो कीड़े पहाड़ों में, वनों में,  
अन्नादि ओषधियों, गौ आदि पशुओं  
में और जल के भीतर हैं तथा जो  
हमारे शरीर में प्रविष्ट हो गए हैं,  
उन सब क्रिमियों के जन्म को जड़  
से ही नष्ट कर दूँ।

इसीलिए चिकनगुनिया,  
मलेरिया, डेंगू जैसी बीमारियों के  
जनक मच्छरों के लारवा को ही  
समाप्त करने का प्रयास किया जाता  
है। अतः ऐसे हानिकारक  
जीवजन्तुओं को मारने के समय की  
गई हिंसा उचित मानी जाती है। इसमें  
ननुनच करने या मीनमेख निकालने  
की गुंजाइश नहीं।

शास्त्र-आज्ञा

आइए, देखें-इस विषय में शास्त्र  
क्या कहते हैं-

जहां अहिंसा को परमधर्म कहा  
गया है, वहां जगत् को हानि पहुंचाने  
वाले प्राणियों को दण्ड देने का भी  
विधान है-

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत  
स्त्रियम्।

विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु।।

ऋ. 7/104/24

चोर, डाकू, लुटेरा चाहे पुरुष

हो या स्त्री, उसे मार दो। सिर धड़  
से अलग कर दो।

यदि शासक के लिए ऐसी  
व्यवस्था न हो तो चोर, डाकू, हत्यारे  
प्रजा का नाश करके अराजकता पैदा  
कर देंगे। अतः वेद कहता है-

प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टं  
अरातयः।। यजु. 1/7

राक्षस स्वभाव वाले और लुटेरे  
मनुष्यों को नष्ट कर दो।

अव जहि यातुधानानव  
कृत्याकृत्यं जहि।।

अथर्व. 5/14/2

पीड़ा देने वालों को मार डालो।  
हिंसा करने वाले का नाश कर दो।

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि  
पूरुषम्।

तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा  
नोऽसो अवीरहा।।

अथर्व. 1/16/4

यदि हमारी गाय को, घोड़े को,  
पुरुष को तू मारता है या मारेगा तो  
उस मारने वाले तुझको हम सीसे  
की गोली से मार देंगे। जिससे तू  
हमारे इन पशुओं और वीरों का नाश  
करने वाला न होवे।

लूट-खसोट करने वालों और दूसरों  
को पीड़ित करने वालों के प्रति कठोरता  
का व्यवहार करने का उपदेश है-

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि  
श्वयातुमुत कोकयातुम्।

सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव  
प्र मृण रक्ष इन्द्र।।

ऋ. 7/104/22, अथर्व. 8/4/22

हे (इन्द्र) राजन्! उल्लू के समान  
झपटने वाले, भेड़िये के समान चाल-  
चलन वाले दुःखदायी, हिंसक, कुत्ते  
जैसा व्यवहार करने वाले-दुम हिलाने  
अथवा गुरगने वाले, आपस में लड़ने  
झगड़ने वाले, चक्रवाकों के समान  
कामी, मदमस्त-दुष्कर्म करने वाले,  
गिद्ध दृष्टि वाले अर्थात् लोभ में आकर  
परसम्पत्ति हरने वाले उपद्रवियों,  
राक्षसों को मार दो जैसे शिला से  
मिट्टी के ढेले को कुचल देते हैं।

मनु महाराज कहते हैं-

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं  
वा बहुश्रुतम्।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवा-  
विचारयन्।। मनु. 8/350

गुरु, बाल, वृद्ध, ब्राह्मण अथवा  
बहुत बड़े विद्वान् के रूप में इस  
आते हुए आततायी को बिना विचारे  
ही मार देना चाहिए।

नाततायी वधे दोषो हन्तुर्भवति  
कश्चन।। मनु. 8/351

आततायी के वध में हन्ता का  
कोई दोष नहीं होता।

परन्तु इसे पढ़ कर कहीं ऐसा न  
हो जैसा कि आजकल के गोरक्षकों  
ने जनभक्षक बनकर कानून अपने  
हाथ में ले लिया है। जिसमें अनेक  
व्यक्तियों को अपनी जान से हाथ  
धोना पड़ा है। वस्तुतः गोरक्षकों को  
चाहिए था कि उन्हें पकड़ कर  
पुलिस के हवाले करते। इससे वे  
प्रशंसा के पात्र बनते।

किसी व्यक्ति को दंड देना शासन,  
प्रशासन, न्यायाधीश का काम है,  
जनसाधारण का नहीं। उस का काम  
तो सहयोग करना, सूचना देना है।

प्रशासक के लिए ऐसा कठोर  
दण्ड देने का औचित्य बताते हुए  
मनु महाराज कहते हैं-

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड  
एवाभिरक्षति।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म  
विदुर्बुधाः।। मनु. 7/10

दण्ड ही सारी प्रजा पर शासन  
करता है, दण्ड ही रक्षा करता है,  
दण्ड ही सोए हुए लोगों में जागता  
है। अतः बुद्धिमान् लोग दण्ड को  
ही धर्म कहते हैं।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा  
रञ्जयति प्रजाः।

असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाश-  
यति सर्वतः।। मनु. 7/19

जो दण्ड अच्छी प्रकार से विचार  
से धारण किया जाए तो वह सब  
प्रजा को आनन्दित कर देता है और  
जो बिना विचारे चलाया जाए तो सब  
ओर से राजा का विनाश कर देता है।

श्री राम और श्री कृष्ण अहिंसा  
के भक्त थे, परन्तु दुष्टों का संहार  
भी किया। श्री राम ने विश्वामित्र के  
साथ जाकर यज्ञ की रक्षा की।  
विश्वामित्र ने उन्हें दुष्ट दलन हेतु  
शस्त्रास्त्र का प्रशिक्षण भी दिया।  
यद्यपि वह स्वयं शत्रुओं का संहार  
कर सकते थे तथापि उन्होंने ऐसा  
नहीं किया क्योंकि वह हिंसारहित  
यज्ञ कर रहे थे। इसीलिए यज्ञ को  
'अध्वर' भी कहते हैं-

ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः  
अध्वरः।। निरुक्त 1/8

जिस कर्म में हिंसा न हो, वह  
अध्वर है।

अतः विश्वामित्र शासकीय दृष्टि  
से यज्ञ की रक्षा हेतु श्री राम को  
साथ ले गए थे।

शासक, प्रशासक के लिए भी  
अहिंसा का पालन आवश्यक है  
परन्तु अपनी सीमाओं के अन्दर ही।  
जहां राष्ट्र की रक्षा, प्रजा का पालन,  
अभिवृद्धि राजा का कर्तव्य है, वहां  
शत्रुओं का संहार भी अत्यावश्यक है।

महर्षि दयानन्द के अहिंसा  
सम्बन्धी स्पष्ट निर्देश

महर्षि दयानन्द ने यजुर्वेद का  
भाष्य करते हुए राजा एवं  
राजकर्मचारियों को हिंसा-अहिंसा  
सम्बन्धी स्पष्ट निर्देश दिए हैं, जिनका  
उन्हें तत्परता से पालन करना चाहिए।  
एतदर्थं यजुर्वेद के कुछ मन्त्रों के  
भावार्थ प्रस्तुत हैं-

1. राजापुरुषों को चाहिए कि जो  
गौ आदि बड़े उपकार के पशुओं  
को मारने वाले सिंह आदि वा मनुष्य  
हों, उन तथा चोर आदि मनुष्य हैं-  
उनको अनेक प्रकार के बन्धनों से  
बांध ताड़ना दे नष्ट कर वश में  
लावें। यजु. 11/78

2. जो सेना तथा प्रजा विरोधी  
हों तथा डाकू, चोर, खोटे वचन  
बोलने वाले मिथ्यावादी, व्यभिचारी  
मनुष्य होवें उनको अग्नि से जलाने  
आदि भयंकर दण्डों से शीघ्र ताड़ना  
देकर वश में करें। यजु. 11/77

3. मनुष्य को चाहिए कि गौ  
आदि पशुओं को कभी न मारे, न  
मरवावें और न किसी को मारने दें।

यजु. 12/73

4. मनुष्यों को चाहिए कि जलों  
में, आकाश में जो दुष्ट प्राणी वा  
सर्प रहते हैं, उनको शस्त्रों से निवृत्त  
करें। यजु. 13/8

5. हेरजपुरुषो! तुम लोगों को चाहिए  
कि जिन बैल आदि पशुओं के प्रभाव  
से खेती आदि काम, जिन गौ आदि से  
दूध, घी आदि उत्तम पदार्थ होते हैं, उनको  
कभी मत मारो और जो जन इन  
उपकारक पशुओं को मारे, उनको राजादि  
न्यायाधीश अत्यन्त दण्ड देवें और जंगल  
में रहने वाले नीलगाय आदि प्रजा की  
हानि करें, वे मारने योग्य हैं।

यजु. 13/49

6. हे राजन्! जिन भेड़ आदि  
के रोम, त्वचा मनुष्यों के सुख के  
लिए होती है और जो ऊंट भार  
उठाते हुए मनुष्यों को सुख देते हैं;  
उनको जो दुष्टजन मारना चाहें,  
उनको संसार के दुःखदायी समझो  
और उनको अच्छे प्रकार दण्ड देना  
चाहिए। यजु. 13/50

7. मनुष्यों को उचित है कि बकरे  
और मोर आदि श्रेष्ठ पशु, पक्षियों  
को न मारें और इनकी रक्षा करके  
उपकार के लिए संयुक्त करें। जो  
अच्छे पशुओं और पक्षियों को मारने  
वाले हों, उनको शीघ्र ताड़ना देवें।  
हां, जो खेती को उजाड़ने हारे श्याही  
आदि पशु हैं उनको प्रजा की रक्षा  
के लिए मारें। यजु. 13/51

( क्रमशः )



## पहला सुख नीरोग काया

ले.-प्रा. भद्रसेन-होशियारपुर

( गतांक से आगे )

भोजन सदा अपने शरीर के ताप के अनुरूप ही लेना चाहिए। अतः वह जहां अति उष्ण या शीतल न हो वहां दूषित और अप्रिय भी न हो। सुपाच्य, रोगनिवारक तथा शक्तिवर्धक होना भोजन की सबसे बड़ी विशेषता है।

शास्त्रों में भोजन को प्राण, ब्रह्म, ज्येष्ठ, वाज, यश, औषध, मधु, विराट् कहा है। यजुर्वेद १,२० के अनुसार अन्न दीर्घ प्रसिति (बांधने वाली रस्सी) है, जिससे शरीर में जीवन टिका रहता है। शास्त्रकारों ने भोजन की महिमा को दर्शाते हुए अन्न को शक्ति का कारण, जीवन का आधार, स्वास्थ्य शोभा का रहस्य, सर्वाधार बताया है। जिसका अभिप्राय है कि स्वास्थ्य विकास और संरक्षण में भोजन का बहुत बड़ा हाथ है। अतः भोजन के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी बर्तनी चाहिए। शरीर की नीरोगता, पुष्टि, प्रगति के लिए जो लाभदायक हो, सदा ऐसा ही [खाद्य-पेय-चोष्ट एवं लेह्य] भोजन खाना चाहिए, न कि केवल जिह्वा के स्वाद के लिए। अतः सुपाच्य, रोगनिवारक तथा शक्तिवर्धक होना भोजन की ये तीन बड़ी विशेषताएं हैं।

कैसा भोजन शरीर के लिए उपयोगी है? इस सम्बन्ध में एक आयुर्वेदीय रोचक आख्यान मिलता है कि एक बार सारी विद्या पढ़ लेने पर शिष्यों की परीक्षा लेने के लिए आचार्य चरक ने क्रमशः सबके सम्मुख एक प्रश्न रखा- “कोऽरुक्? कोऽरुक्?” कौन नीरोग अर्थात् स्वस्थ है? तब अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सबने अपना-अपना विचार रखा। किसी ने कहा च्यवनप्राश का नियमित सेवन करने वाला, किसी ने बताया कि अमुक भस्म, रसायन, अवलेह, आसव, अरिष्ट, चूर्ण बर्तने वाला सदा स्वस्थ रहता है। सबसे अन्त में सीधे सादे अध्यवसायी वाग्भट्ट ने प्राकृतिक जीवन-जन्य आरोग्य के रहस्य को बताते हुए कहा-

हित-भुक्, मित-भुक्, ऋत-भुक्, न रोगी स्यात्।

अपने शरीर की प्रकृति के अनुरूप जो हितकर और परिमित मात्रा में अपने परिश्रम की सच्ची कमाई से नियमित खाता है, वह रोगी नहीं होता। अर्थात् भोजन के सम्बन्ध में सबसे आवश्यक विचारणीय तीन बातें हैं। भोजन के सम्बन्ध में पहली बात यह है कि हमारा आहार शरीर की प्रकृति के अनुरूप हितकर अर्थात् बल-पुष्टि देने वाला हो। सबसे शरीर की प्रकृति भिन्न-भिन्न होने से किसी को कोई चीज़ अनुकूल होती है और किसी को कोई। भोज्य पदार्थों की अनुकूलता-प्रतिकूलता का निर्णय प्रतिदिन के अनुभव के आधार पर बड़ी सरलता से किया जा सकता है। क्योंकि अपने शरीर के लिए हितकारक होने की अनुकूलता ही कसौटी है, अतः केवल स्वाद के लिए तले हुए गरिष्ठ, चटपटे पदार्थ ही नहीं खाने चाहिए। अपितु हमारा भोजन सुपाच्य और पौष्टिक हो। पोषक तत्व [विटामिन] शरीर के विकास और बल-संचय के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनकी न्यूनता और अभाव रोगों को जन्म देता है। इस बात पर सभी चिकित्सक सहमत हैं। केवल इनकी मात्रा में ही मतभेद है। पोषाहार सम्बन्धी सामान्य नियमों को ध्यान में रखते हुए थोड़ी सूझ-बूझ से काम लें, तो भोजन पर बिना अधिक व्यय बढ़ाए ही पौष्टिक आहार की काफी कमी पूरी की जा सकती है। अतः ऐसे तरीके व्यवहार में लाये जाएं, जिससे पकाने पर पोषक तत्व नष्ट न हों। अन्यता कुपोषण रोगों का कारण बन सकता है। अर्थात् हितकर भोजन से ही उदर तृप्त करना चाहिए।

तभी तो वेद ने कहा है-

मध्व अन्धसो मादयध्वम्।

( ऋग्वेद )

भोजन सम्बन्धी दूसरी बात है कि वह अपनी पाचन-शक्ति के अनुरूप जितना पचा सके, उतना

ही हो, न कि खाते समय तो लोभवश खा जाएं, पर बाद में बिना पचे उलटी और दस्तों के रूप में बाहर निकल जाए। खट्टे डकार, शरीर और भोजन की प्रतिकूलता के द्योतक होते हैं। खट्टे डकार प्रायः पाचन अग्नि के मन्द, अजीर्ण होने, अधिक खाने, गरिष्ठ और परस्पर विरोधी पदार्थों के खाने से आते हैं। अर्थात् अधिक मात्रा में गलत चीजें और बेमेल पदार्थ, बिना भूख के, बिना चबाये उतावली से खाने पर अनेक रोग आकर दबा लेते हैं। मनुष्य यदि जीभ को वश में रखे और पेट पर दया करे, तो बीमारी के अवसर स्वयं कम हो जायें। क्योंकि बीमारी का एक बड़ा कारण अधिक और अधिक बार खाना है।

मित, परिमित, सन्तुलित भोजन का ही विधान करते हुए वेद ने कहा है-

अग्ने तीलस्य [ आज्यस्य ] प्राशान।

( अथर्व० १,७,२ )

अर्थात् घृत आदि पौष्टिक आहार भी स्वपाचन शक्ति के अनुरूप ही खाने चाहियें जिससे-

ऋदुरेण सख्या सचेय।

( ऋग्वेद )

ऐसे भोजन के खाने पर पेट हल्का रहे। भेल संहिता के अनुसार सुपाच्य हल्का भोजन भी अधिक मात्रा में लेने पर भारी हो जाता है और अल्प मात्रा में लिया गया भारी [गरिष्ठ] भोजन भी हल्का होता है। शरीर की स्वस्थ रखने के लिए भोजन का सुपाच्य होना अत्यन्त आवश्यक है। हिंसा जन्य एवं धार्मिक दृष्टि से अविहित होने के साथ मांस गरिष्ठ होने के कारण भी मनुष्य जाति के अनुकूल नहीं है। भोजन का मितपना ऋतु, समय, आयु, पाचन-शक्ति, प्रदेश और स्वप्रकृति आदि से विशेष सम्बन्ध रखता है। एक ही वस्तु, ऋतु, स्थान, पाचन-शक्ति, और मात्रा के भेद से भिन्न-भिन्न परिणाम वाली होती है। इस दृष्टि से भोजन सदा अपने शरीर के ताप के अनुरूप ही लेना चाहिए, अतः वह जहां अति उष्ण,

अतिशीतल न हो वहां दूषित और अप्रिय भी न हो।

तीसरी आवश्यक बात है कि हितकर परिमित, भोजन भी हम नियमित रूप से लें। यह नहीं कि किसी विशेष कारण के बिना ही किसी दिन दस बजे खाया और किसी दिन दो बजे, ऐसे ही किसी दिन कई बार खूब खाया तो कभी फ्राकों पर फ्राके या बहुत ही हल्का भोजन करना। मानसिक प्रभाव और सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से स्वपरिश्रम की सच्ची कमाई से हो, तो यह सोने में सुहागे वाली ही बात होगी। सुपाच्य, पौष्टिक और सन्तुलित भोजन एक सर्वगुण-सम्पन्न रसायन है। भोजन भी औषध की तरह स्वस्थ के बल को बढ़ाने वाला और पीड़ित के कष्ट को हटाने वाले के रूप में दोहरे फल वाला है। शक्ति-वर्धक औषध ही वृष्य एवं रसायन कहलाती है। अतः अपनी शक्ति के अनुरूप ही षड्गुण युक्त रसायन [भोजन] का उपयोग करना चाहिए। तभी उसके सेवन से शरीर एवं उसके अङ्ग पुष्ट तथा बलवान् हो सकते हैं। अतः भोजन का विचारपूर्वक सेवन करना चाहिए। क्योंकि भोज्य पदार्थों के दुर्योग और अतियोग से ही अधिकतर रोग होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने इसीलिए ही कहा है-आहार प्राणियों के लिए एक वरदान है, अतएव उसको सब रोगों की दवा कहते हैं। इसी भाव का प्रतिपादन कश्यपसंहिताकार ने भी किया है।

आहार जैसी कोई भी उत्तम दवाई नहीं है। तभी तो केवल उपयुक्त भोज्य पदार्थों के समुचित प्रयोग से भी व्यक्ति को स्वस्थ किया जा सकता है। जैसा कि प्राकृतिक चिकित्सा प्रक्रिया से होता है। आहार पर ध्यान दिये बिना केवल औषध से पूर्ण लाभ नहीं होता अर्थात् पथ्यापथ्य के बिना दवाई अधूरी है। इसीलिए ही अनुभवी चिकित्सा-विशेषज्ञ आहार को एक महान् औषध कहते हैं। सब से बड़ी बात तो यह है कि पथ्य आहार के सेवन से रोग होते ही नहीं।

## यज्ञ और उसके ज्ञान के साधन

ले.-डा. अभयदेव शर्मा

भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य के लिये निर्धारित चार पुरुषार्थों में से धर्म का महत्त्व सबसे अधिक है। अर्थ और काम तभी ग्राह्य हैं, जब धर्मानुकूल हों। धर्म ही मोक्ष का पथ प्रशस्त करता है। मनुष्य के जीवन को चार भागों में विभक्त करके, ब्रह्मचर्याश्रम में शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा, इन पांच अर्थों की सिद्धि, तथा गृहस्थाश्रम में अर्थ (धन) के उपार्जन और कामसेवन का विधान किया गया है। वानप्रस्थाश्रम मोक्ष की साधना के लिये है तथा संन्यासाश्रम ब्रह्म (ज्ञान)-कर्म के समस्त ऐहलौकिक बन्धनों से मुक्त होकर जीवन्मुक्त विदेह होकर विचरने की स्थिति है। धर्म इन चारों आश्रमों में व्याप्त है। वर्ण-व्यवस्था के मूल में भी धर्म प्रधान है। ब्राह्मण का प्रधान धर्म मोक्ष की सिद्धि, क्षत्रिय का मुख्य कर्तव्य सामाजिक धर्म की स्थापना, वैश्य का धर्म अर्थों का उपार्जन और उनका सुष्ठु वितरण है, तथा जो कामपरायण है, वह शूद्र है। यह अंशतः सत्य और स्थूल विभाजन पुरुषार्थचतुष्टय की दृष्टि से है। वस्तुतः प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक पुरुषार्थ की साधना करता है, क्योंकि शरीर और प्राण मनुष्य के अर्थ-साधन हैं, मन कामप्रधान है, बुद्धि धर्म-प्रधान है और आत्मा मोक्षशील है।

धर्म वही है जो मनुष्य को पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि की ओर ले जाये। किसी भी एक के नितान्त अभाव में मनुष्य का जीवन दूभर हो जाता है। ब्रह्म (ज्ञान) के पश्चात् कर्म का अवसर होता है। धर्म कर्म का क्षेत्र है, ऋतुमय है। ब्रह्म का कर्म में परिपाक करना धर्म का भागधेय है। तत्त्वज्ञान किस प्रकार मनुष्य के दैनिक जीवन में सतत, नैसर्गिक अभ्यास का विषय बने, यह धर्म की समस्या है। इसे हल करने के लिये धर्म को मनुष्य के जीवन का कार्यक्रम तथा मर्यादाएं निर्धारित करनी होती हैं। समाज में सब मनुष्यों का बौद्धिक स्तर एवं आत्म-बल समान नहीं होता है। अतः विभिन्न स्तरों के लोगों को दृष्टि में रख कर धर्म के भी उच्चावच रूप हो जाते हैं। उपासना की योगपरक, सूक्ष्म, भारतीय पद्धति जन-सामान्य को मोक्ष के मार्ग पर एक साथ नहीं ले जा सकती। अतः

स्त्री-शूद्र-द्विज-बन्धुवर्ग के लिये प्रतीकोपासना का आश्रय धर्म को लेना होता है। उपासना का यह प्रकार सब देशों और कालों में विभिन्न रूपों में रहा है। भौतिक, स्थूल पदार्थों को किन्हीं सूक्ष्म, निराकार तत्त्वों के सूचक मान कर, उनके माध्यम से अपने मन और बुद्धि को सूक्ष्म से सूक्ष्म और फिर सूक्ष्मतम तत्त्व में प्रवेश कराने का प्रयास प्रतीकोपासना का लक्ष्य होता है। पर इस उपासना में एक भय है जो प्रायः सर्वत्र और सर्वदा सही निकला है। प्रतीक स्वयं प्रधान हो बैठता है, और जिसका वह प्रतीक है, वह लोक में परोक्ष तथा बुद्धयतीत रह जाता है। प्रतीकोपासना ढर्रा वा परम्परा बन कर रह जाती है। भौतिक पदार्थ का पूजनमात्र रह जाता है; उसका प्रतीकत्व चित्त से लुप्त हो जाता है। प्रतीकोपासना का यह रूढ़ रूप 'कर्मकाण्ड' है। कर्मकाण्ड ऐसा भंवर है जिस में मनुष्य-जाति सदा से, संस्कृति के उदय-काल से ही फंसी हुई है, और जिस से उबरना उसके लिये लगभग असम्भव है। व्यक्तिविशेष अपनी वैयक्तिक साधना से कर्मकाण्ड पर आरोहण और आक्रमण करके ब्रह्मतत्त्व तक पहुँच सकते हैं, अपने उदाहरण से अन्यो को प्रेरणा दे सकते हैं। पर समाज की सामूहिक गीत कर्मकाण्ड की परिधि के बाहर नहीं जा पाती है।

भारतीय कर्मकाण्ड का वैदिक रूप यज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञ में विभिन्न देवताओं को उद्देश्य करके द्रव्य का त्याग किया जाता है। यज्ञ को समझने के लिये देवताओं के प्रतीकत्व को स्पष्टतः समझना आत्मावश्यक है। 'देवता' याज्ञिक परिभाषा है। यज्ञबाह्य क्षेत्र में देवता को, स्थूल रूप में, देव कह सकते हैं। देव विश्व-व्यापक कतिपय-शक्तियाँ, सिद्धान्त वा नियम हैं, जो विश्व का सर्जन, व्यवस्थापन तथा प्रलयन करते हैं। देवता के स्वरूप और कर्म को जाने बिना यज्ञ का अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाता है। 'देवानां वै विद्यामनु मनुष्याः' वा 'यद् देवा अकुर्वन्तत् करवाणि' ऐसी भावना यज्ञ का आधार है। जगत् में देव जो कुछ करते हैं, उसकी अनुकृति मनुष्यों द्वारा किया जाने वाला प्रतीकात्मक यज्ञ है। देवयज्ञ की प्रतिकृति मनुष्य यज्ञ है।

कालान्तर में यज्ञ की मौलिक तथा सरल संस्था क्रमशः जटिल और भावुक बनती गई प्रतीत होती है। देवताओं की प्रसन्नता से कामनाओं की सिद्धि के आधार पर सैकड़ों काम्य यज्ञ कल्पित किये गये। देवताविशेष के पूजकों के पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय बने। कुछ देवताओं का यजन कम होता गया, अन्यो को अधिकाधिक प्राधान्य मिलता गया। और आगे जा कर, देवताओं की प्रतिमाएं कल्पित की गईं और उनका पूजन आरम्भ हुआ। यह पुराणों का युग था, जब वैदिक कर्मकाण्ड कुछ तो विरोध के कारण और कुछ भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के प्रवाह के बहुत आगे जा चुकने के कारण प्रतिमा-पूजन के लिये स्थान छोड़ चुका था। यज्ञों की परम्परा नष्ट तो नहीं हुई। पर यज्ञ या तो प्रतिमा-पूजन के पुच्छल्ले बन गये, अथवा कतिपय अवसर-विशेषों पर अहंकार की तुष्टि के लिये किये जाने लगे, यथा, राजसूय, अश्वमेध आदि।

वैदिक कर्मकाण्ड के पर्याप्त संकेत स्वयं संहिताओं में उपलब्ध हो जाते हैं। यजुर्वेद की संहिताएं तो स्पष्ट ही यज्ञों में आध्वर्यव कर्मों को दृष्टि में रख कर संकलित की गईं प्रतीत होती हैं। सामवेद में औद्गात्र कर्म की दृष्टि से मन्त्रों का संचय है। ऋग्वेद और अथर्ववेद की संहिताएं यज्ञ के क्रमशः हौत्र और ब्राह्म कर्म से सम्बद्ध मानी जाती हैं। अथर्ववेद में गृह्यकर्मों से सम्बद्ध सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में है। मन्त्र-विनियोग की दृष्टि से यह बहुत अंशों में सत्य है भी। पर ऋग्वेद में तथा अथर्ववेद में ऐसे भी अनेक मन्त्र तथा सूक्त हैं जो यज्ञ के चौखटे में समा नहीं पाते हैं। आदि में यज्ञों का स्वरूप इतना जटिल नहीं रहा होगा। 'ब्राह्मण'-ग्रन्थों के काल में यज्ञ-संस्था काफ़ी व्यापक हो चुकी थी। उस युग में नये-नये काम्य यज्ञों की कल्पना की गई। साथ ही यज्ञों की क्रियाओं के प्रतीक-विधान का तथा देवों के प्राकृत यज्ञ की प्रक्रियाओं के रहस्यों के समझने का गम्भीर प्रयत्न ब्राह्मणों में हुआ है।

इन में यज्ञ की क्रियाएं तथा उनका अभिप्राय साथ के साथ विवेचित होता चला है। कर्मकाण्ड के आधार पर तत्त्वज्ञान तक पहुँचने का प्रयास ब्राह्मण-प्रवचनकारों ने किया था।

यज्ञों के प्रतीक-विधान को छोड़ कर, कर्मविधायक भाग को सूत्रकारों ने कल्प-सूत्रों में पृथक् निकाल लिया ताकि ऋत्विजों तथा अन्य याज्ञिक पुरुषों को यजन-याजन में सुविधा रहे। यज्ञ-सम्पादन के समय कर्मकर्ताओं के समक्ष कर्म निर्वाह प्रधान हो जाता है; कर्म के प्रतीकत्व का गम्भीर विवेचन उनके ध्यान में उतना, बल्कि बिल्कुल नहीं रहता है। साधारण याज्ञिक उसकी आवश्यकता भी अनुभव नहीं करते, क्योंकि उन में यज्ञकर्म की रूढ़ि का निर्वाह-मात्र करके अपनी वा यजमान की कामनाओं को तुष्ट करने की भावना प्रमुख होती है। 'कल्प' नामक वेदांग में यज्ञ के रूढ़ रूप का विराट् दर्शन होता है। वहाँ कर्मकाण्ड की जटिलता एवं बारीकी चित्त को अभिभूत कर लेती है।

वेद-पुरुष के छः अंग माने गये हैं। वेद की जीव के रूप में जो कल्पना प्रसिद्ध है उसमें कल्प को उस (वेद-पुरुष) के दो हस्त माना गया है। हाथ कर्मसम्पादन का, सर्जन-व्यवस्थापन-विनाश का साधन है। इस कल्पनानुसार कल्प नामक वेदहस्त कल्पन-सर्जन करता है। वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। कल्प वा कर्म को ज्ञान का हाथ मानना समीचीन कल्पना है। ज्ञान के कल्पन का अर्थ है उसे कर्मरूप में ढालना।

इस प्रकार, कल्प वेदों का व्यावहारिक पक्ष है। उनमें जो ज्ञान है, उसे मनुष्य अपने जीवन में कर्म वा आचरण में कैसे ढाले, यह कल्प का लक्ष्य है।

वेदों में जो ज्ञान है, वह वैश्व तथा व्यक्तिगत अथवा समष्टिपरक तथा व्यष्टिपरक, दो प्रकार का है। वैश्व ज्ञान से विश्व के निर्माण की प्रक्रिया तथा स्वरूप का ज्ञान होता है, तथा व्यष्टि से विराट् रूप के संक्षिप्त नमूने का अध्ययन होता है। रचना-स्थितिप्रलय के जो नियम विराट् विश्व में लागू होते हैं, वे ही व्यष्टि में भी। वैज्ञानिक वैश्व नियमों की खोज और परख व्यष्टि से आरंभ करता है। किसी एक इकाई में कोई विशेषता दीख पड़ती है। फिर उसे वह अन्यत्र भी कहीं देखता है। इस निरीक्षण से किसी सर्वगत नियम विशेष का ज्ञान होता है। फिर वह उस नियम की सत्ता को सर्वत्र देखता-परखता है और इस प्रकार

(शेष पृष्ठ 7 पर)



## पृष्ठ 2 का शेष-ईश्वरीय ज्ञान और वैज्ञानिक...

व दुःख प्रदान किये जाते हैं जिसका आधार जीवों के कर्म होते हैं।

आर्य समाज की स्थापना ऋषि दयानन्द से हुई है। उन्होंने वेद विषयक अपनी सभी मान्यताओं को वेद प्रमाणों के साथ तर्क व युक्ति के आधार पर प्रस्तुत कर उनका अपने ग्रन्थों में प्रकाश किया है। उनका उद्घोष है कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। उन्होंने यजुर्वेद एवं ऋग्वेद का आंशिक भाष्य भी किया है। उनका किया वेदभाष्य ज्ञान व विज्ञान के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है। वेदों की सभी शिक्षायें व सिद्धान्त तर्क से अकाट्य हैं। वेद कर्म-फल सिद्धान्त को मानते हैं जिसके अनुसार मनुष्य जो भी शुभ व अशुभ कर्म करता है उसका फल उसको ईश्वर इस जन्म व परजन्म में प्रदान करते हैं। संसार में प्राणी जगत में जो विभिन्नताएं देखने को मिलती हैं उसका समाधान पूर्वजन्म व परजन्म सहित कर्मफल सिद्धान्त के आधार पर ही होता है। ईश्वर की योग विधि से उपासना वेदसम्मत होने के साथ ज्ञान व विज्ञान से सम्मत कर्म है। ईश्वर की उपासना से मनुष्य के अहंकार

का नाश होने के साथ उसके गुणों में सुधार व वृद्धि होती है। आत्मा का बल बढ़ता है। ऐसा ईश्वरोपासक मनुष्य पहाड़ के समान मृत्यु आदि दुःख प्राप्त होने पर भी घबराता नहीं है। अग्निहोत्र भी एक धार्मिक एवं देश व समाज को सुखों से युक्त करने वाला कर्म है। इससे अनेक लाभ होते हैं। वायु व वर्षा जल के दोष दूर होने से मनुष्य स्वस्थ रहता है।

अग्निहोत्र यज्ञ करने का लाभ इस जन्म में सुखों सहित परजन्म में भी परमात्मा के द्वारा प्रदान किया जाता है। वेदाध्ययन एवं आर्य विद्वानों के यज्ञ विषयक ग्रन्थों को पढ़कर यज्ञ विज्ञान व इससे लाभों को जाना जा सकता है। आचार्य डा. रामनाथ वेदालंकार की यज्ञ-मीमांसा तथा डा. रामप्रकाश जी की यज्ञ-विमर्श पुस्तकें पठनीय हैं। आर्य समाज के सभी सिद्धान्तों वेदों के अनुकूल होने सहित ज्ञान व विज्ञान के सिद्धान्तों के भी पूरक एवं इनके अनुकूल हैं। वेद मार्ग पर चलने से ही मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं। इसी के साथ इस चर्चा को विराम देते हैं।

## आर्य मर्यादा के ग्राहक महानुभावों की सेवा में

आर्य मर्यादा साप्ताहिक निरन्तर आपकी सेवा में पहुंच रही है। जिन आर्य मर्यादा के ग्राहकों ने अभी तक अपना वार्षिक शुल्क या पिछला शुल्क नहीं भेजा है उनसे विनम्र प्रार्थना है कि वह अपना वार्षिक शुल्क जल्द से जल्द भिजवाने की व्यवस्था करें। आर्य मर्यादा का वार्षिक शुल्क मात्र 100/- रुपये है और आजीवन सदस्यता शुल्क 1000/- रुपये है। इसलिये मेरी सभी ग्राहक महानुभावों से प्रार्थना है कि वह अपना शुल्क जल्द से जल्द भिजवाने की व्यवस्था करें। इसके साथ ही आर्य समाजों के पदाधिकारियों एवं सदस्यों से भी निवेदन है कि वह अधिक से अधिक आर्य मर्यादा के ग्राहक बनाने में सहयोग करें। आशा है आप का सहयोग हमें प्राप्त होगा।

-व्यवस्थापक आर्य मर्यादा

ईशा वास्यमिदः सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।  
तेन त्यक्तेन भुज्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

-यजु० ४०.१

भावार्थ-मनुष्यमात्र को चाहिए कि, सर्वत्र व्यापक परमात्मा को जानकर, अन्याय से किसी के धनादि पदार्थ की कभी इच्छा भी न करे। जो कुछ वस्तु परमेश्वर ने दे दी है उससे ही अपने शरीर की रक्षा करे। जो धर्मात्मा पुरुष, परमेश्वर को सर्वत्र व्यापक सर्वान्तर्यामी जानकर कभी पाप नहीं करते और सदा प्रभु के ध्यान और स्मरण में अपने समय को लगाते हैं, वे महापुरुष, इस लोक में सुखी और परलोक में मुक्ति सुख को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहते हैं।

## पृष्ठ 6 का शेष-यज्ञ और उसके ज्ञान के साधन

उस नियम की सार्वत्रिकता की खोज से विभोर हो जाता है। अनेक में किसी एक सूत्र को ओत-प्रोत पाना ज्ञान है, तथा एक ही तत्त्वविशेष को बहुत तथा बहुरूप में अनुस्यूत देखना विज्ञान है। एक से अनेक की ओर प्रवृत्ति ही विविध तथा विशेष ज्ञान है। अनेक में एक का पता चलना सर्वसम ज्ञान है। इस ज्ञान-विज्ञान को मनुष्य यदि कर्मरूप में परिणत न करे, तो न तो ज्ञानार्जन से कोई व्यवहारिक प्रयोजन ही सिद्ध होता है, और न ज्ञान का परिष्कार तथा अभिवर्धन ही।

परंपरा से प्रसिद्ध है कि वेदार्थ के तीन पक्ष हो सकते हैं, आत्मविषयक अर्थ अर्थात् व्यष्टिगत अभिप्राय, भूतसंबद्ध प्रयोजन तथा विश्वसंबद्ध परमार्थ। आत्मा-देव-भूत अथवा मन-प्राण-देव, विश्व का समस्त ज्ञान-विज्ञान इन तीन ही श्रेणियों में समाविष्ट है। वर्तमान युग की भाषा में, मनोविज्ञान (साइकोलॉजी) प्राणविज्ञान (बायोलॉजी) तथा पदार्थविज्ञान (फिजिक्स), ये तीन मूल विज्ञान हैं। व्यष्टि के मन तथा वैश्व मन का संज्ञान, व्यष्टि में प्राण की तथा समष्टि में प्राण (देव) की गतिविधि का प्रज्ञान तथा व्यक्ति की भूत-भौतिक सत्ता और विश्व में भूत-भौतिक रचना-प्रलय की प्रक्रिया का विज्ञान, इन तीन वर्गों से बाहर कोई ज्ञान-विज्ञान शेष नहीं रहता है। परम-सत्ता मन (आनन्द)+ प्राण (चित्)+भूत (सत्) का समन्वित रूप है जिसे सच्चिदानन्द कहा गया है। सत्, चित् और आनन्द का समरस, अविनाभूत स्वरूप परम ब्रह्म है। इसी को उपनिषदों में 'रस' संज्ञा है। भारतीयों के त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, शिव), तीन वेद, तीन लोक आदि चैतवादपरक समस्त त्रित्वविधान इन तीन दृष्टियों के विवर्त हैं।

प्राचीन चिन्तकों ने वैदिक ज्ञान को यज्ञरूपी परीक्षणशाला (लेवॉरैटरी) में परखने का आयोजन किया था। जिस रूप में ज्ञान-विज्ञान को उन्होंने समझा था, उसे उन्होंने वैदिक (श्रौत) यज्ञों के रूप में, मानो, नक्शा बनाकर प्रस्तुत किया है। अतः वैदिक यज्ञों की प्रक्रिया, प्रक्रिया में बारीक-बारीक मतभेदों, तथा प्रक्रिया की पृष्ठभूमिरूप ज्ञान-विज्ञान का धरातल, इनका अध्ययन वेद के वास्तविक प्रतिपाद्य तक ले जाता है।

यज्ञों का जो स्मार्त वा गृह्य रूप है, वह लोक-प्रचलित सामान्य रूप है, जिसका आचरण से सम्बन्ध है। लोक में मनुष्य-जीवन की जो धारा हास-विलास, सुख-दुःखों और अभिलाषा-अरमानों के बीच में से होती हुई सदियों से बहती आई है, उसका वेदाधृत तथा लोक-जीवन के रागविरागमय उपलेपन से सज्जीकृत जो लोकाचारों तथा प्रथाओं का समुच्चय है, वही गृह्यसूत्रों में वर्णित हुआ है। इन श्रौत तथा गृह्य कर्मों का और भी निखरा हुआ रूप तथा नवनीतरूप सारा धर्मसूत्रों में है, जिनमें कर्मकाण्डपक्ष की पृष्ठभूमि पर जीवन के नियमों तथा मर्यादाओं का प्रतिपादन हुआ है। व्यक्ति के जीवन का कम आश्रमव्यवस्था के रूप में, तथा उस के सामाजिक पक्ष का कम वर्णव्यवस्था के अंतर्गत निरूपित हुआ है। शुल्बसूत्रों को भी कल्प के अंतर्गत माना जाता है। उनका सम्बन्ध श्रौतस्मार्तयज्ञरूपी वेदपरी-क्षणशाला से है।

इस प्रकार, श्रौतस्मार्त-आचार धर्म-शुल्बसूत्रमय कल्प नामक वेदांक को अपने कर्मप्रधान स्वरूप के कारण उचित ही वेद के दो हस्त माना गया है।

यज्ञ का क्रियाप्रधान अंग कल्पसूत्र का प्रतिपाद्य है, तो उसका रहस्यनिरूपणपरक, प्रतीकविधान-प्रतिष्ठ रूप ब्राह्मणवाङ्मय के आरण्यकोपनिषद्भाग में विस्तृत धरातल पर उठाया गया है। एक कर्मकाण्डपरक शास्त्र हैं तो दूसरा ब्रह्मकाण्डपरक। पर दोनों हैं अन्योन्याश्रित और परस्पर अविनाभूत। आरण्यकोपनिषद् यज्ञ को स्वीकार करके ही अपने विवेचन में दत्तचित्त होते हैं। पदे-पदे उनमें यज्ञपदावली का प्रयोग मिलता है। ब्राह्मणों में यज्ञक्रियाओं के साथ-साथ उनका रहस्यनिरूपण मिलता है, जबकि आरण्यकोपनिषदों ने केवल रहस्यनिरूपण अंश को फटककर समेट लिया है। शायद ही आरण्यकोपनिषदों में कोई ऐसा विचार हो, जो तत्पूर्ववर्ती ब्राह्मणभाग में न आ चुका हो। अतः एक ओर, जहां आरण्यकों, और विशेषतः उपनिषदों का वास्तविक कथ्य बिना ब्राह्मणों की सहायता के स्पष्ट होना असंभव है वहां यज्ञों के निरूपण में भी कल्पसूत्रों से लेकर उपनिषदों तक समूचे वाङ्मय को दृष्टि में रखना आवश्यक है। (क्रमशः)

# सर्वसम्मति से नरेन्द्र सूद सातवीं बार आर्य समाज मोगा के प्रधान चुने गये

आर्य समाज 2 न्यू टाऊन मोगा का 2019-20 का वार्षिक निर्वाचन 23 जून 2019 को सम्पन्न हुआ। सर्वप्रथम आर्य समाज मोगा के कोषाध्यक्ष श्री जे.के. सिंगला ने पूरे वर्ष भर का आय व्यय का लेखा जोखा प्रस्तुत किया। इसके पश्चात प्रधान श्रीमती सुमन मल्होत्रा जी ने अपनी वर्तमान कार्यकारिणी को भंग करते हुये वर्ष भर का सहयोग करने वाले समस्त घटकों का हार्दिक आभार व्यक्त किया। इसके पश्चात निर्वाचन हेतु अध्यक्ष पद के लिये श्री सुरेश मल्होत्रा जी का नाम सर्वसम्मति से प्रस्तावित हुआ एवं अनुमोदन किया गया। निर्वाचन पूर्व सभा को श्री मल्होत्रा जी, श्रीमती गीता आर्या जी ने, श्री प्रियतम देव जी एवं बोधराज मजीठिया ने आर्य समाज के प्रचार, गरिमा एवं विकास के लिये सुझाव दिये जिसकी सभी ने प्रशंसा की।

अनन्तर सभाध्यक्ष श्री मल्होत्रा जी ने प्रधान पद के नाम को प्रस्तावित करने के

लिये आर्य समाज के सभासदों से कहा।

अनुमोदन किया। सभा अध्यक्ष द्वारा अन्य

सूद जी का नाम सर्वसम्मति से प्रस्तावित किया जाये। जिसका उपस्थित समस्त मतदाताओं ने हर्षध्वनि से अनुमोदन किया। इस प्रकार सर्वसम्मति से श्री नरेन्द्र सूद जी सातवीं बार आर्य समाज मोगा के प्रधान चुने गये। इसके पश्चात सभा अध्यक्ष जी ने निर्वाचित प्रधान श्री नरेन्द्र सूद जी को अपनी कार्यकारिणी गठन करने का सर्वाधिकार दिया। वर्ष भर श्री सत्य प्रकाश जी, श्री प्रवीण जी, श्री रमन जी, श्री जितेन्द्र जी, श्री अनिल जी, श्री अमित जी, श्री पुरुषोत्तम जी, श्री जे.के. सिंगला जी, श्री राजन जी, एवं श्री नरोत्तम पुरी जी तथा अन्य नये पीढी के युवकों ने भरपूर योगदान दिया। इससे पूर्व आर्य समाज मंदिर मोगा में रविवार का साप्ताहिक हवन यज्ञ श्री दिवाकर भारती जी की देखरेख में हुआ। जिसमें सभी सदस्यों ने पवित्र



आर्य समाज मोगा के सभासद वार्षिक चुनाव के पश्चात सामूहिक चित्र खिंचवाते हुये। उल्लेखनीय है कि श्री नरेन्द्र सूद जी सर्वसम्मति से सातवीं बार आर्य समाज मोगा के प्रधान चुने गये।

जिस पर श्रीमती सुमन मल्होत्रा जी ने श्री नरेन्द्र सूद जी का नाम प्रधान पद के लिये प्रस्ताव रखा जिसका श्री अमित बेरी जी ने

नाम का प्रस्ताव देने के लिये कहने पर कोई अन्य नाम नहीं आया जिस पर श्री जगदीश अग्रवाल जी ने कहा कि श्री नरेन्द्र

वेदमंत्रों से यज्ञ में आहुतियां प्रदान की।  
**दिवाकर भारती आर्य पुरोहित आर्य समाज मोगा**

## आर्य समाज महर्षि दयानन्द बाजार लुधियाना में मासिक राशन वितरण समारोह सम्पन्न

आर्य समाज महर्षि दयानन्द बाजार (दाल बाजार) लुधियाना में दिनांक 16 जून 2019 रविवार को सत्संग के उपरान्त लगभग 35 से 40 जरूरतमंद परिवारों को आर्य समाज की तरफ से मासिक राशन वितरण समारोह का आयोजन किया गया। यह आर्य समाज लगभग पिछले 75 वर्षों से राशन वितरण कार्यक्रम का आयोजन करती आ रही है। इस आर्य समाज में कई जरूरतमंद परिवारों को गुप्त रूप से विवाह शादियों एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी सहायता भी समय समय पर प्रदान की जाती है। यह कार्यक्रम आर्य समाज के प्रांगण में हर मास के दूसरे रविवार को आयोजित किया जाता है। इसके अलावा कम्बल, स्वेटर आदि भी पंजाब से बाहर के गुरुकुलों एवं आश्रमों में समय समय पर भेजे जाते हैं। इससे पूर्व आर्य समाज के सभी सदस्यों एवं पदाधिकारियों ने मिल कर आर्य समाज की यज्ञशाला में पवित्र

वेदमंत्रों के साथ आहुतियां प्रदान कीं। इस साप्ताहिक सत्संग में भजन एवं प्रवचन भी हुये। इस बार श्री सुरेन्द्र कुमार शास्त्री जी का प्रवचन हुआ। उन्होंने यज्ञ की महिमा पर सुन्दर प्रवचन दिया। उन्होंने कहा कि यज्ञ शब्द अनन्तता का सूचक है। स्वयं जीवन भी एक यज्ञ है, इस जीवन यज्ञ को सुनियमित बनाने के लिए ब्रह्मयज्ञ एवं देवयज्ञ दोनों ही अपेक्षित हैं। ब्रह्मयज्ञ चिन्तन में सम्बद्ध हैं। आत्मा को बलवान बनाने के लिए, इन्द्रियों को संयमित एवं सशक्त करना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि सारथि के साथ रथ को सुचारू रूपेण चलाने योग्य। इन्द्रियों को बलवान, यशस्वी एवं पवित्र बनाने के लिए ब्रह्म यज्ञ किया जाता है। मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि- नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः अर्थात् निबर्लेन्द्रिय ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकते। ईश्वर के गुण स्वभाव को अपने अन्दर लाने एवं उन गुणों के अर्थ की भावना मन में

धारण करने से मनुष्य के अन्तःकरण में उन गुणों का प्रभाव पड़ता है और क्रमशः वे मानव जीवन से अभिन्न हो जाते हैं। गुणों के समावेश से ईश्वर का सामीप्य ही ब्रह्म यज्ञ का लक्ष्य है। सन्ध्या, स्वाध्याय के अनन्तर देवयज्ञ का विधान है जो सैद्धान्तिक एवं धार्मिक होने के साथ-साथ सामाजिक, सुखशान्ति एवं नियमन का भी प्रेरक है। आध्यात्मिकता के साथ-साथ वैज्ञानिकता से परिपूर्ण इस यज्ञ के विषय में आर्ष ग्रन्थों में कहा गया है कि अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः अर्थात् स्वर्ग की इच्छा रखने वाला पुरुष अग्निहोत्र करे। इस भौतिक यज्ञ से जलवायु शुद्ध होती है एवं रोगकारक कीटाणुओं का नाश होता है। प्राणशक्ति के संवर्धन के साथ परिमित वृष्टि करने में भी भौतिक यज्ञ अत्यन्त सहायक है। यज्ञ क्या है? इसका स्वरूप, उपयोगिता तथा सीमा क्या है? क्या यज्ञ पात्र, यज्ञशाला, हवन सामग्री ही इसके साधन हैं? वस्तुतः

तो प्रत्येक श्रेष्ठतम कल्याण कार्य यज्ञ है। यज्ञ शब्द का मौलिक अर्थ यजधातु में है। यज्ञ-देवपूजा संगतिकरणार्थ दानेषु अर्थात् जिसमें प्राणीहित, लोकहित एवं सबके प्रति सद्भावना तथा सहृदयता के कार्य सम्पन्न होते हैं वह कर्म श्रेष्ठतम कर्म है, यज्ञ का यही स्वरूप है। यज्ञ का ही स्वरूप यह संसार है। सृष्टि यज्ञ प्राकृतिक देव शक्तियां करती हैं। प्रवचन के पश्चात श्री संजीव चड्ढा, श्री सुभाष अबरोल, श्री राजिन्द्र बतरा और आर्य समाज की बहनों के सुन्दर भजन हुये। सत्यार्थ प्रकाश की कथा नवयुवक साथी श्री सुमित टंडन ने की। यह सारा कार्यक्रम आर्य समाज के महामंत्री श्री सुरेन्द्र कुमार जी ने सुचारू रूप से चलाया। अंत में शांति पाठ के पश्चात सभा समाप्त हुई। आर्य समाज में सत्संग प्रत्येक रविवार को प्रातः 8.00 बजे से 10.00 बजे तक होता है।

**संत कुमार प्रधान आर्य समाज महर्षि दयानन्द बाजार**

## वेदवाणी

### अन्तर की वाणी

शिवास्त एका आशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।

तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका विपपातानु घोषम्॥

-अथर्व ७ 14३ 1१

ऋषि-प्रस्कण्वः ॥ देवता-वाक् ॥ छन्दः-त्रिष्टुप् ॥

**विनय-हे मनुष्य!** तू जो वाणियों बोला करता है, उनमें कुछ तेरा कल्याण करने वाली होती हैं और कुछ अकल्याण करने वाली। जो वाणियाँ सच्ची और प्यारी होती हैं, जो दूसरे के हित के लिए, लाभ पहुँचाने के लिए, सत्य फैलाने के लिए बोली जाती हैं वे कल्याणकारिणी होती हैं और जिन वाणियों को तू छल-कपटपूर्वक, द्वेष व क्रोध के साथ, दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए बोलता है उनसे तेरा भारी अकल्याण होता है, पर तू वाणियों के इस महान् भेद को न समझता हुआ इन सब प्रकार की वाणियों को बोलता जाता है-अच्छी-बुरी दोनों वाणियों को एक ही प्रकार प्रसन्नतापूर्वक बेखटके बोलता जाता है। तू शायद समझता है कि तेरे बोले हुए शब्दों का जो उसी समय नष्ट

होते दीखते हैं, तुझ पर कुछ प्रभाव नहीं होता या नहीं हो सकता, परन्तु तुझे पता नहीं कि तू वाणी को केवल बोलता नहीं है, किन्तु उसे धारण भी करता है। तू जो शब्दरूप में बोलता है वह तो वाणी का एक भाग (एक-चौथाई भाग) है; उस वाणी के शेष तीन भाग तो तेरे अन्दर छिपे हुए पड़े होते हैं, तुझमें रखे हुए होते हैं। जो अभिप्राय तू शब्दों में (इस चौथी वैखरी वाणी में) बोलता है, वह अभिप्राय तेरे मन में (तीसरी मध्यमा वाणी के रूप में) समाया रहता है और मन में बोले जाने से भी पूर्व वह अभिप्राय तेरे अन्दर साकार व निराकार ज्ञान के रूप में रहता है (जिन्हें कि क्रमशः दूसरी और पहली, पश्यन्ती और परा वाणी कहते हैं)। एवं, तेरी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वाणी तेरे अन्दर अपने तीन पाद रखे रहती है और चौथे पाद में वह बाहर शब्दरूप में दीखती है। यह शब्दरूप चौथाई वाणी चाहे तुझे अपने पर कुछ असर कर सकने वाली न दीखती हो, परन्तु वाणी के इस समूचे रूप पर-वाणी के अन्दर के इन तीनों रूपों पर-जब भी तू ध्यान देगा तो तुझे दीखेगा कि सच्ची कल्याणकारिणी वाणी तुझमें परा, पश्यन्ती और मध्यमारूप में ठहरी हुई तुझ पर कितना कल्याणकारी प्रभाव कर रही है और बुरे अभिप्राय से परा, पश्यन्ती और मध्यमारूप में धारण की हुई अकल्याणकारिणी वाणी अन्दर-ही-अन्दर से तेरा कितनी भारी अकल्याण कर रही है।

स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की तरफ से मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक प्रेम भारद्वाज द्वारा गायत्री प्रिंटिंग प्रैस, मण्डी रोड जालन्धर पंजाब से मुद्रित एवं गुरुदत्त भवन, चौक किशनपुरा, जालन्धर से प्रकाशित।

पोआरबी एक्ट के तहत प्रकाशित सामग्री के चयन हेतु उत्तरदायी किसी विवाद का न्यायिक क्षेत्र जालन्धर होगा। आर एन आई संख्या 26281/74 E-mail: apspunjab2010@gmail.com, www.aryapratidinidhisabha.org